P: ISSN NO.: 2321-290X RNI : UPBIL/2013/55327 VOL-6* ISSUE-8* (Part-2) April- 2019
E: ISSN NO.: 2349-980X **Shrinkhla Ek Shodhparak Vaicharik Patrika**

भारत में न्यायिक प्रणाली मुगल काल के विशेष संदर्भ में

हरबीर सिंह डागुर
सहायक आचार्य,
राजनीति विज्ञान विभाग,
महारानी श्री जया राजकीय महाविद्यालय,
भरतपुर, राजस्थान, भारत

सारांश

सामाजिक विज्ञान और विधिक इतिहास के विद्वानों का मत है कि आरंभिक समाजों में, विवादों के निपटारे की किसी संगठित प्रणाली का संकेत नहीं मिलता। न्याय की प्राप्ति एक निजी मामला होता था। जिसका निर्णय युद्ध या शक्ति से होता था। आगे चलकर कुछ मामलों में न्याय समुदाय की सहायता से प्राप्त किया जाने लगा। जब समाज अस्तित्व में आया तभी से आचरण के कुछ नियम भी निर्धारित हुए। समाज के नियमों का अनादर करने का अर्थ था समाज का अनादर करना। विधि का भंग करने वालों के साथ कठोरता से निपटा जाता था और दंड सामूहिक तौर पर दिया जाता था। न्याय प्रदान करने के मुख्य उद्देश्य दो हैं: सत्य का शोध और लोगों से विधिक नियमों का पालन कराना। विनोग्रेडोफ के अनुसार, प्राचीन काल में, सत्य की खोज की अपेक्षा समस्याओं के समाधान पर अधिक बल दिया जाता था। न्याय प्रदान करने का काम राजा का होता था और मनु तथा नारद ने राजा की स्थिति की तुलना एक शल्य–चिकित्सक से की है। महाभारत का कथन है कि राजा को, जिसका काम न्याय करना भी है, सत्य के मार्ग से विचलित नहीं होना चाहिए और यह आवश्यक है कि वह बुद्धिमान तथा सुसंस्कृत हो।[1]

मुगल काल में न्यायिक प्रणाली बगदाद और मिस्र के खलीफाओं के प्रतिदर्श पर थी और उसका स्वरूप लगभग वही था जैसा कि मुस्लिम विधिशास्त्रियों ने निर्धारित किया था और दिल्ली के सुल्तानों ने उत्तर भारत में कायम किया था। बादशाह को केंद्र माना जाता था चाहे वह राजधानी में हो या कहीं बाहर डेरा डाले हो, क्योंकि सर्वोच्च न्यायालय वही था। वह धुरी था, सब कुछ उसी के चारों ओर घूमता था। उसकी सभी मामलों पर मूल अधिकारिता थी। उसके समक्ष अपीलें की जा सकती थीं। जैसा कि जहांगीर के वृत्तांत में आता है, कोई भी आदमी आकर घंटा बजा सकता था और अगर बादशाह की मर्जी होती तो वह उसी समय न्याय कर सकता था जिसकी कोई अपील नहीं होती थी।[2]

मुख्य शब्द : विधिवेत्ता, धर्मसूत्र, न्यायालय, सरीअत, खलीफा, काजी, दीवान, आदिल, सद्र–ए–कुल, सिविल, अन्वेषण, काजी–ए–अस्कर, परगना, शिकदार, मुहतसिब, बादशाह, दस्तावेज, डिक्री, याचिका और मुकदमा।

प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय विधिवेत्ताओं ने न्याय के प्रशासन को नियमित करने के लिए विधि का विकास करने की ओर बहुत ध्यान दिया। इस विषय से संबंधित रचनाओं में सुझाव दिया गया है कि उच्चतम न्यायालय राजधानी में अवस्थित होना चाहिए। राजा के प्राधिकार से निचले न्यायालय स्थापित किए जाते थे। जनता के अपने न्यायालय भी थे जिन्हें ग्राम स्तर के विवादों का निर्णय करने की शक्ति थी। न्यायाधीशों और न्यायालय के अन्य अधिकारियों की अर्हताएं विहित थीं। इस बात की भी व्यवस्था थी कि जहां आवश्यक हो वहां तकनीकी प्रश्नों पर न्यायालय की सहायता करने के लिए विशेषज्ञों की नियुक्ति की जाए। प्रक्रिया तथा साक्ष्य की विधियां बनाई गई थीं। बृहस्पति, नारद, मनु, कौटिल्य आदि नीतिकारों ने न्यायाधीशों तथा न्याय के प्रशासन से जुड़े अन्य व्यक्तियों की एक आचार संहिता बनाई थी जिसमें न्याय प्रशासन के अनुक्रम में अपराध करने वाले अधिकारियों को दंडित करने से संबंधित उपबंध भी थे।

साधारणतया शरीअत (मुस्लिम विधि) सभी लोगों और वादों से ऊपर मानी जाती थी। इस्लामी विधि शास्त्र का उद्भव मुख्यतया कुरान और सुन्ना (पैगंबर साहब के व्यवहार और परंपराओं) से हुआ है। लेकिन जब अनन्य इस्लामी विधि भारत के वृद्धिगत और मिश्रित समाज की आवश्यकताओं के लिए अपर्याप्त प्रतीत होने लगी तो सार्वजनिक सहमति को विधि के अतिरिक्त स्रोत के रूप में जोड़ दिया गया। अकबर के शासनकाल से पहले न्यायिक प्रक्रिया पर भी

पारंपरिक मुस्लिम विधि लागू की जाती थी। इस पद्धति को लागू करने में जब अनेक कठिनाईयां आने लगीं तो इसकी अपर्याप्तता का क्रमशः बोध हुआ और तब प्रशासन में कई समझौते किए गए और ढीलें दी गई। लेकिन वास्तविक परिवर्तन अकबर के शासनकाल में ही आया जब उसने गैर मुस्लिमों के विरुद्ध जो भेदभावपूर्ण विधियां थीं उन्हें काफी हद तक निरस्त कर दिया और सभी के लिए न्याय की एक समान प्रणाली स्थापित की। वैसे, उसके उत्तराधिकारी ने शिथिलीकरण के इस क्रम को पूरी तरह आगे नहीं बढ़ाया। अंग्रेजों के भारत आगमन के बाद, अठारहवीं शताब्दी में कठोर इस्लामी विधि का अंत हो गया।[3]

अध्ययन के उद्देश्य

प्रस्तुत शोधपत्र का उद्देश्य शोधार्थियों को भारतीय न्यायिक प्रणाली की ऐतिहासिकता से परिचित कराते हुए उन्हें मुगल कालीन न्याय व्यवस्था की जानकारी देना है। उन्हें यह बताना है कि किस प्रकार मुगल काल में न्याय व्यवस्था ग्राम से लेकर राजधानी तक बादशाह के नियंत्रण में थी तथा उसमें किस तरह बगदाद, मिश्र और भारतीय व्यवस्था का मिश्रण किया गया।

मुगल काल में न्यायिक प्रणाली

मुगलों के अधीन न्यायिक प्रणाली का विकास तीन कालों में बांटा जा सकता हैः

1. अकबर के शासन से पूर्व का काल,
2. अकबर के शासन को समाहित करने वाला काल (1556 से 1606 ई.) और
3. अकबर के पश्चात्य अंग्रेजी राज के प्रारंभ तक का काल।

राजधानी में, बादशाह के नीचे दीवाने आला और मुख्य काजी (काजी–उल–कज्जात) होते थे। प्रांतों में सूबेदार, दीवान और प्रांतीय काजी और सेंकदार थे, और परगनों में अमीन तथा काजी न्याय करते थे।[4]

तुर्की और फारस के बादशाहों की तरह, मुगल सम्राट भी न्याय का उद्गम था और खुले दरबार में स्वयं मुकदमों का विचारण करने की परंपरा का निर्वाह करता था। मुकदमों का विचारण करते समय सम्राट दीवाने खास में बैठता था। सम्राट का न्यायालय सर्वोच्च अपीली न्यायालय था, वह देश का सर्वोच्च अधिकरण था। शाही दरबार में स्वयं सम्राट, काजी, मुफ्ती और आदिल होते थे। सम्राट के निर्णयों को क्रियान्वित करने के लिए दारोगा–ए–अदालत और कोतवाल उपस्थित रहते थे।[5]

विभिन्न प्रकार के मामलों को निपटाने के लिए विभिन्न प्रकार के न्यायालय थे, भूमि के अधिकारों से संबंधित विवादों के लिए राजस्व न्यायालय थे, विवाह, उत्तराधिकार, विवाह विच्छेद आदि के मामलों के लिए काजियों के न्यायालय थे, धर्मेतर और अपरिभाषित अपराधों के विचारण के लिए प्रशासनिक अधिकारियों की अध्यक्षता वाले पंथनिरपेक्ष न्यायालय थे और न्यायिक संगठन के बाहर जाति न्यायालय तथा ग्राम पंचायतें थीं। तत्कालीन न्यायालयों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता हैः

1. धार्मिक विधि को लागू करने वाले न्यायालय जिनकी अध्यक्षता काजी करते थे।
2. लौकिक मामलों का निर्णय करने वाले न्यायालय जिनकी अध्यक्षता सूबेदार (गवर्नर) और अन्य अधिकारी करते थे।
3. राजनीतिक मामलों का निर्णय करने वाले न्यायालय जिनकी अध्यक्षता सम्राट अथवा उसके अभिकर्ता करते थे।

धार्मिक विधि के न्यायालय

परिवार विधि अथवा उत्तराधिकार की वे बातें जिन्हें साधारणतया धार्मिक विवादों से संबद्ध समझा जाता था और वक्फों से संबंधित विधिक प्रश्नों पर काजी द्वारा विचार किया जाता था।

सबसे ऊंचे काजी को काजी–उल–कज्जात कहते थे और वही हर प्रांत में काजियों की नियुक्ति करता था। वे सप्ताह में पांच दिन अर्थात् शनिवार, रविवार, सोमवार, मंगलवार और बृहस्पतिवार को अपना काम करते थे और बुधवार को उन्हें सूबेदार के दरबार में हाजिर होना पड़ता था। शुक्रवार को अवकाश रहता था।

सद्र साम्राज्य के सिविल न्यायाधीश होते थे। मुख्य सद्र, सदरुस सदूर या सदर–ए–जहां कहलाता था। उसे सदरे कुल भी कहते थे। उसका काम हर प्रांत में स्थानीय सद्र की नियुक्ति करना था। मुख्य सद्र के अनुदेश पर स्थानीय सद्र माफी की जमीन और दैनिक भत्ता पाने वालों की सूचियां तैयार करते थे। सद्र का काम यह सुनिश्चित करना भी था कि वेतन पाने वाले लोग सम्राट के आदेशों का पालन करें। वह उनकी मृत्यु की जानकारी भी रखता था। सम्राट का दान मुख्य सद्र के द्वारा वितरित किया जाता था।[6]

लौकिक मामलों के न्यायालय

ये न्यायालय काजी के अधीन नहीं होते थे। ये अलिखित रुढियों, सामान्य विधि या जनजाति की विधियों को लागू करते थे और उनका धार्मिक विधि से कोई संबंध नहीं था। इन न्यायालयों के मुंसिफ गैर–मुस्लिम भी हो सकते थे। विभिन्न मामलों में राज्य की आवश्यकताओं या वैयक्तिक रुचि के अनुसार सम्राट या उसके अभिकर्ता (काजी नहीं) के द्वारा जो निर्णय किए जाते थे, उन्हें उर्फ कहते थे। ये मुख्यतया राज्य के या विधि व्यवस्था के विरुद्ध अपराध जैसे कि विद्रोह, अनिष्ठापूर्ण व्यवहार, सिक्कों का धातुक्षरण, बल्वा, चोरी, राजमार्गों पर लूट और हत्या आदि के मामले होते थे। ये न्यायालय सामान्य विधि या राजनीतिक अपराधों से संबंधित मुकदमों की सुनवाई करते थे।

उपर्युक्त वर्गीकरण बहुत कठोर नहीं था, सत्रहवीं शताब्दी में काजी सभी प्रकार के मामलों की सुनवाई करता था– सिविल, दांडिक, धार्मिक और लौकिक। यह बात दक्षिण से प्राप्त, औरंगजेब के शासन के 46 वें वर्ष के अजमेर सूबे के अखबारात से पता चलती है।

न्यायालय की अधिकारिता सीमित नहीं होती थी। अधिकारिता की दृष्टि से मामलों का वर्गीकरण अपराधों की गंभीरता अथवा विवादग्रस्त संपत्ति के मूल्य पर आधारित नहीं होता था। न्यायालय अधिकारिता की दृष्टि से उच्चतर या निम्नतर नहीं होते थे जैसा कि आज है। न्यायालयों का स्तर उनकी अध्यक्षता करने वाले की श्रेणी पर निर्भर करता था। कोई दो न्यायालय अधिकारिता

या दावे की रकम के आधार पर एक–दूसरे से भिन्न नहीं थे। उच्चतर न्यायालय मामले को निचले न्यायालय में भेज सकता था।

इसी प्रकार, श्रेणीबद्ध अपीली न्यायालय नहीं थे। यह इसलिए आवश्यक नहीं था कि यदि कोई एक पक्ष निचले न्यायालय के निर्णय से संतुष्ट नहीं होता था तो वह अपने साधनों के अनुसार, किसी भी न्यायालय में अपील कर सकता था। यह इस कारण भी था कि अपीली न्यायालय कभी निचले न्यायालय के अभिलेख को नहीं पढ़ता था। वह अपने साधनों से पूरे मामले का नए सिरे से अन्वेषण करता था।[7]

किसी मामले में उच्चतर न्यायालय द्वारा दिया गया निर्णय निचले न्यायालय के लिए अनिवार्यतः पूर्व निर्णय नहीं होता था। आजकल उसे पूर्व निर्णय माना जाता है। न्यायालयों का उच्चतर या निचला होना इस बात पर निर्भर करता था कि एक न्यायालय की अध्यक्षता करने वाले व्यक्ति दूसरे न्यायालय के अध्यक्ष से वरिष्ठ है या कनिष्ठ। न्यायाधीश विद्वान व्यक्ति होते थे और प्रत्येक का अपना विशिष्ट व्यक्तित्व होता था। गांव के वृद्धजनों में मामलों को निपटाने की पूरी समझदारी होती थी और इसीलिए अधिकांश मामलों का निर्णय जाति–न्यायालयों और पंचायतों द्वारा हो जाता था। मुगल न्यायाधीश पुलिस का कार्य भी करते थे। यदि न्यायालय की सामान्य प्रक्रिया से संतोषजनक परिणाम नहीं निकलता था तो मामले का विचारण करने वाले न्यायालय का यह कर्तव्य होता था कि वह स्वयं अन्वेषण करे और विवादित मामले की सचाई का पता लगाए। यह बात आज के न्यायालयों से भिन्न है जिनका काम सिर्फ यह देखना है कि वादी अपना पक्ष साबित कर पाया है या नहीं। मुगल न्यायालय अफवाहों की न्यायिक जाँच करके उनकी छानबीन कर सकते थे या किसी वाद के पक्षों से सत्य की स्वीकृति करवाने के लिए उन्हें भुलावे में डाल सकते थे।

राजधानी के न्यायालय

सम्राट का न्यायालय साम्राज्य का सर्वोच्च न्यायालय होता था। दीवाने आला का न्यायालय और सदरूस सदर या मुख्य काजी के न्यायालय भी थे। सदरूस सदर को, जो मुख्य काजी के रूप में भी काम करता था, प्रांतों के काजियों और मीर आदिलों को नियुक्त करने का अधिकार था और वे उसके आदेशों के अधीन काम करते थे।

सदरूस सदर, मुख्य सद्र और दीवाने आला बादशाह द्वारा नियुक्त किए जाते थे। कस्बों, परगनों और सरदारों में मीर आदिल नहीं होते थे क्योंकि उनमें बहुत कम वाद होते थे। दीवान का न्यायालय केवल अपील न्यायालय था।

साधारणतया राजा प्रत्येक दिन दरबार में साधारण वादों की सुनवाई करता था पर जिन महत्त्वपूर्ण वादों में साक्ष्य और साक्षियों, प्रति परीक्षा और आगे अन्वेषण तथा विचार करने की आवश्यकता होती थी, उनकी सुनवाई सप्ताह के एक नियत दिन की जाती थी। अकबर ने इसके लिए बृहस्पतिवार, जहांगीर ने मंगलवार और शाहजहां ने बुधवार नियत कर रखा था। बादशाह जब सैन्य अभियान पर, सैर सपाटे पर या विभिन्न प्रांतों के दौर पर होता था तब भी यह व्यवस्था इसी प्रकार चलती थी।

ऐसे अवसरों पर राजा के समक्ष कितनी सरलता से पहुंचा जा सकता था इसका अनुमान एक घटना से लगाया जा सकता है। साबरमती के किनारे पर खान–ए–खाना द्वारा बनवाए गए प्रसिद्ध उद्यान के एक माली ने बादशाह जहांगीर से सूबेदार मुकर्रब खां के एक नौकर के विरुद्ध शिकायत की कि उसने बगीचे के चंपा के कुछ पेड़ों को काट डाला था जिनकी देखभाल वह माली करता था। मामले की जांच कराई गई, परिवाद सही पाया गया। अभियुक्त के दोनों अंगूठे काट डाल गए। मुकर्रब को इस सारे मामले का पता भी न था। राजा को, सिविल और दांडिक या सभी प्रकार के मामलों में आरंभिक तथा अपीली, दोनों अधिकारिताओं का प्रयोग करने की पूरी शक्तियां थीं।[8]

काजी–ए–अस्कर

उपर्युक्त संगठन के अलावा, बादशाह को फौज के लिए अलग से एक काजी नियुक्त करने का अधिकार था जिसे काजी–ए–अस्कर कहा जाता है। जिसकी अधिकारिता सीमित थी। यदि कोई मामला काजी–ए–अस्कर और नगर काजी दोनों की अधिकारिता में आता था तो, यदि अन्यथा आदेश न दिया जाए, ऐसे मामले की सुनवाई करने का अधिकार नगर काजी को होता था।

यदि दोनों पक्षवार सेना से हों तो भी वे अपना मामला सिविल न्यायालय में ले जा सकते थे जिसे सेना न्यायालय की तुलना में पूर्वता प्राप्त थी। वर्तमान स्थिति इससे बिल्कुल भिन्न है।

गांव और कस्बे (जाति न्यायालय और पंचायतें)

उपर्युक्त के अतिरिक्त, गांवों में एक बड़ी महत्त्वपूर्ण संस्था पंचायत होती थी जो गांव के लोगों द्वारा प्रस्तुत सभी प्रकार के–धार्मिक, सिविल और दांडिक–मामलों का निर्णय करती थी। पंचायतें किसी काजी सूबेदार या जिला अधिकारी के नियंत्रण के अधीन नहीं होती थीं। पंचायत के सदस्यों का चुनाव लोग स्वयं करते थे। पंच अथवा न्यायाधीश ऐसे लोग होते थे जिन्होंने ग्राम समाज के लिए कोई उल्लेखनीय सेवा की हो। पंच का अर्थ है पांच और पंचायत की सदस्य संख्या विशेष, अधिकतर पांच, हुआ करती थी जिससे निर्णय बहुमत से किया जा सके। पंचायतों को जुर्माना करने, लोकावनति, भत्र्सना अथवा जाति से बाहर करने का दंड देने की शक्ति थी परंतु यह कारावास अथवा मृत्युदंड नहीं दे सकती थी। लोकधारणा यह थी कि पंचों में सच्चा न्याय करने का दैवी गुण होता है और उनका प्राधिकार शुद्ध रूप से विधिक या प्रशासनिक न होकर होकर नैतिक अधिक था। उनके प्राधिकार के पीछे लोकमत का बल रहता था। पंचायतों द्वारा न्याय करने की व्यवस्था को भारत के आरंभिक अंग्रेज प्रशासकों ने सराहा था। भारतीय दंड संहिता, 1861 के अधिनियम से पहले इस संबंध से सर हेनरी इलियट ने ये विचार व्यक्त किए थे।[9]

विचारण की इस रीति का विशिष्ट मूल्य यह है कि प्रायः अनुभूति की दशा विशेष पर निर्भर करने वाली देशी रुढियों की जटिल बातें, जो विदेशी होने के कारण

अंग्रेज अधिकारी की पकड़ में आना कठिन हैं, पंचों के लिए सहज होती हैं और वे बहुत–सी ऐसी छोटी छोटी बातों को भी उचित महत्व दे पाते हैं जिन्हें देशी व्यक्ति के अतिरिक्त और कोई नहीं समझ सकता। पुराने प्रांतों में भी, जहां विनियम प्रवर्तन में हैं, कई बार प्राचीन काल से चली आई विवाद निर्णय की इस विधि की शरण लेना अधिक सुविधाजनक प्रतीत होता है और उसके परिणाम इतने संतोषप्रद होते हैं कि यह इच्छा होती है कि इस पद्धति का अनुसरण व्यापक रूप से किया जाता।

अकबर के शासनकाल में नियम यह था कि जैसे भी हो न्यायाधीशों को मामले के तथ्यों का पता लगाना चाहिए। साक्षियों के कथन ही पर्याप्त नहीं समझे जाते थे। न्यायाधीश से यह अपेक्षा थी कि वह संबंधित पक्षवारों से गहराई से पूछताछ करेंगे और कोई निर्णय देने से पहले मामले पर अच्छी तरह विचार करेंगे। निष्पक्ष न्याय के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए, न्यायाधीशों को आदेश था कि वे विधि की भावना का अनुसरण करें, त्वरित न्याय दें और प्रतिकार की अपेक्षा सुधार की नीति पर चलें। अकबर का पुत्र जहांगीर अपने न्याय के लिए प्रसिद्ध हो गया।

गांवों में विवादों का निर्णय गांव के वृद्धजन संबंधित पक्षकारों की रूढियों, चलनों और विश्वासों के आधार पर करते थे। सचाई तक पहुंचने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होती थी क्योंकि गांव वालों को घटना की जानकारी होती थी और वे सचाई के आधार पर विवादों का निपटारा करते थे। जाति न्यायालय अपनी ही जाति के पक्षकारों के आपसी विवादों का निर्णय करते थे और उनके पीछे सामाजिक अनुशास्ति का बल था। बड़े गांवों में, जिन्हें कस्बे कहा जाता था, काजी की नियुक्ति की जाती थी और वही न्याय प्रदान करने का काम करता था। गांवों के लोग भी अपने विवाद उस निकटस्थ कस्बे के काजी के पास ले जा सकते थे जिसकी अधिकारिता में वे पड़ते थे। यदि काजी नियुक्त होते थे तो भी पक्षकार व्यावसायिक श्रेणियों और सामाजिक न्यायालयों में जा सकते थे। नीति यह थी कि देश की उन प्राचीन संस्थाओं को, जो संतोषजनक ढंग से काम कर रही थीं, सरकार को प्रशासन के काम में सहयोग देने दिया जाए और उन्हें बिना सोचे–समझे नष्ट न किया जाए। दिल्ली के सुल्तानों और मुगल बादशाहों ने इनके साथ छेडख़ानी करना लाभप्रद और व्यावहारिक नहीं समझा और उन्हें पहले की तरह अपना काम करने दिया। अकबर ग्राम पंचायतों को विधि द्वारा स्थापित न्यायालय के रूप में मान्यता देता था और उनके निर्णयों का मान करता था। उसने पंचायतों के कार्यकलाप को शासकीय मान्यता प्रदान की।

परगना न्यायालय

परगना न्यायालय तीन प्रकार के थे– शिकदार, काजी और अमीन। शिकदार पूर्णतया लौकिक दांडिक मामलों का विचारण करता था। काजी सिविल, दांडिक और धार्मिक मामलों की सुनवाई करता था। अमीन राजस्व से संबंधित मामलों की सुनवाई करता था। शिकदार परगने का प्रशासनिक अध्यक्ष होता था और वह जिस सरकार की अधिकारिता में होता था, उसके फौजदार का प्रतिनिधित्व करता था। अपनी पदस्थिति के कारण उसका परगने के राजकीय अधिकारियों पर प्रभाव होता था। काजी को स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार विभिन्न केंद्रों में अपने सहायक नियुक्त करने का अधिकार होता था। इन सहायकों को नायब काजी कहते थे। नायब काजी भी अपने अधीन उप–काजी नियुक्त करते थे।[10]

सत्रहवीं शताब्दी में न्यायतंत्र विकेंद्रित था ताकि न्याय तुरंत प्राप्त हो और संबंधित पक्षकारों के लिए सुविधाजनक हो। कार्य–मात्रा को ध्यान में रखते हुए, मामलों के निपटारे के लिए नायब काजियों और उप–काजियों की नियुक्ति की जाती थी। उपखंड मजिस्ट्रेटों, तहसीलदारों, नायब तहसीलदारों आदि की जो व्यवस्था आज विद्यमान है उसका यह पूर्व रूप था।

सरकार स्थित न्यायालय (दांडिक)

फौजदार प्रशासनिक अध्यक्ष था। अन्य महत्त्वपूर्ण सरकारी पदाधिकारी थे–कोतवाल, अमीन और काजी। काजी धार्मिक अपराधों का निर्णय करता था जबकि कोतवाल मुख्य रूप से लौकिक मामले देखता था। किंतु इस बारे में कोई कठोर नियम नहीं था। फौजदार कार्यपालक अध्यक्ष होता था इसलिए वह राजनीतिक अपराधों पर भी कार्रवही करता था। साथ ही, उसके पास न्यायालय को शिकायत भेजने की शक्ति भी रहीं होती।

अपने पुलिस के कर्तव्यों के अतिरिक्त कोतवाल को कुछ न्यायिक शक्तियां थीं। फ्रेंच यात्री टेवर्नियर बताता है कि कोतवाल का दफ्तर एक चौकी की तरह होता था जहां एक 'प्रोवोस्ट' न्याय करने के लिए बैठता था। सूबेदार और कस्बे के न्यायाधीश सिविल मामलों की सुनवाई करते थे जबकि कोतवाल दांडिक मामलों को देखता था। अकबर ने अपने शासनकाल के अठाईसवें वर्ष में साम्राज्य के कोतवाल सहित दमित लोगों की शिकायतें सुनने और उन पर कार्रवाही करने के लिए उच्च पदस्थ चार दरबारियों की एक स्थायी न्यायिक समिति नियुक्त की थी। काजी के कर्तव्य वे ही थे जो ऊपर बताए जा चुके हैं। अमीन से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह कोतवाल को अपने न्यायिक और पुलिस के कर्तव्यों के निर्वाह में सहायता देगा। ऐसा लगता है कि कोतवाल के साथ साथ फौजदार भी आपराधिक मामलों पर कार्यवाही करता था। सरकार का काजी सूबे के काजी की सिफारिश पर नियुक्त किया जाता था।[11]

नगर और उसके निकटवर्ती उपनगरों के पुलिस विभाग का प्रभारी कोतवाल होता था जबकि फौजदार की अधिकारिता ग्रामीण क्षेत्रों पर होती थी। कोतवाल में न्यायिक शक्तियों के अतिरिक्त मुहतसिब के सभी कृत्य निहित थे। पुलिस अधिकारियों को भी दंड देने की शक्ति थी। कोतवाल को अपराधों, विशेषकर चोरी आदि के मामलों पर कार्रवाई करने की न्यायिक शक्ति थी।

प्रांतीय न्यायालय

सूबेदार, दीवान, सद्र, काजी और मीर आदिल सूबे में अपने न्यायालय लगाते थे। उनकी अधिकारिता में पूरा प्रांत आता था। प्रांतीय दीवान एक महत्त्वपूर्ण न्यायिक अधिकारी होता था। अपीली न्यायालय होने के साथ–साथ वह न्यायिक प्रशासन पर भी दृष्टि रखता था और उन लोगों के मामलों का अन्वेषण करता था जो अभिरक्षा में होते थे।

मुहतसिब

कुरान का मुसलमानों को आदेश है कि वे अपने बीच ऐसे लोगों को जगह दें जो लोगों को सत्कर्म के लिए प्रेरित करें और दुष्कर्मों से दूर रखें। इस्लामी राज्यों में ऐसे अधिकारी को मुहतसिब कहते थे। मुहतसिब माप–तौल में खोट, मिलावट और ऐसे देनदारों द्वारा रकम अदा करने इंकार करनेके मुकदमे विचारार्थ स्वीकार कर सकता था जो इतने साधन संपन्न थे कि वे ऋण चुका सकें। वह ऐसे वादों का निर्णय कर सकता था और उनके निष्पादन का आदेश भी दे सकता था। किंतु वह इनके अतिरिक्त किसी प्रकार के मामलों की सुनवाई नहीं कर सकता था। वह मुकदमों का निर्णय तभी कर सकता था जबकि प्रतिवादी आरोप को स्वीकार कर ले। वह उन मामलों को हाथ में नहीं ले सकता था जिनमें दावा विवादग्रस्त हो।[12]

उपर्युक्त मामलों में उसकी अधिकारिता काजी के बराबर होती थी पर उसके कुछ अपवाद थे। वह स्वयं अन्वेषण कर सकता था चाहे मुकदमा दायर नहीं हुआ हो। जबकि काजी को ऐसा करने का अधिकार नहीं था। मुहतसिब भर्त्सना कर सकता था किंतु वह किसी को कैद नहीं कर सकता था क्योंकि कैद करने की शक्ति काजी को थी। मुहतसिब न्यायभंग के दोषी बेईमान लोगों की भर्त्सना कर सकता था। उसका यह उत्तरदायित्व था कि आम रास्तों पर किसी को भवन निर्माण न करने दे भले ही वह रास्ता काफी चौड़ा हो और अगर कोई ऐसा करे तो उसे गिरवा दे चाहे वह मस्जिद ही क्यों न हो क्योंकि आम रास्ता जनता के प्रयोग के लिए होता है। अबू हनीफा का यही कहना है। वह आचरणों का निरीक्षक, नगरपालिका का कार्यपालक और कुछ मामलों में दंड देने की सीमित शक्ति से संपन्न न्यायाधीश था। उपर्युक्त कर्तव्यों के अतिरिक्त अल माबर्द ने नीचे लिखे कुछ और कर्तव्य बताए हैं जिनसे मुहतसिब के उत्तरदायित्व का अनुमान लगाया जा सकता है:

1. यह देखना कि मुसलमान अपने धार्मिक कर्तव्य जैसे कि नमाज पढना़, रमजान में रोजे रखना और शराब से परहेज आदि का पालन बिना किसी भूल–चूक के कर रहे हैं,
2. यह देखना कि कोई समर्थ व्यक्ति भीख न मांगे और यह सुनिश्चित करना कि सड़कों पर कोई भीख न मांगे–यदि कोई भिखारी उसके आदेश को न माने तो वह उसे दंड दे सकता था,
3. चिकित्सकों और अध्यापकों के काम की देखरेख करना क्योंकि उन्हीं की योग्यता और रोगियों के प्रति समर्पण पर लोगों का स्वास्थ्य और बच्चों का प्रशिक्षण निर्भर करता है।
4. यह देखना कि मालिक लोग अपने दासों के साथ उचित व्यवहार करते हैं, क्रूरतापूर्ण नहीं।
5. इस बात पर नजर रखना कि नावें तूफान में किनारा न छोड़ें या जरूरत से ज्यादा लदी न हों।

नवनियुक्त सेंसर को अपने न्यायिक कर्तव्यों का निर्वाह करने के लिए निम्नलिखित महत्वपूर्ण अनुदेश दिए जाते थे:

1. नगरों में नशीले पेय पदार्थों की बिक्री की अनुमति न दो और वेश्याओं को निवास मत करने दो क्योंकि ये बातें धार्मिक विधि के विरुद्ध हैं,
2. कुरान की आज्ञाओं का उल्लंघन करने वालों को समझाओ और चेतावनी दो।
3. बाजार में बिकने वाले माल की कीमतें तय करो और माप–तौल सही, हो, यह सुनिश्चित करो।
4. बाजारों और गलियों में अगर किसी ने नियमों के विरुद्ध सड़क के किसी हिस्से पर पर्दा डाल दिया है या उसे बंद कर दिया है या सड़क पर कूड़ा–करकट फेंक दिया है तो उससे कहो कि नियमों के उल्लंघन को समाप्त करे।

पैगंबर के कानूनों को लागू कराने के मामले में सेंसर की शक्ति सर्वोपरि थी। 1672 में हुसैन अली खां के दीवान मुहम्मद ताहिर का सिर इस्लाम के पहले तीन खलीफाओं के विरुद्ध निंदात्मक शब्दों का प्रयोग करने के कारण सेंसर के कहने पर धड़ से अलग करवा दिया गया था। नैतिक नियमों पर अमल कराने का एक रोचक मामला है। एक पुर्तगाली फादर (पादरी) ने जिसने इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया था, 1667 में अपना पुराना धर्म फिर अंगीकार कर लिया। शरीयत के मुताबिक, धर्मत्याग के लिए उसे मौत की सजा दे दी गई। सबसे उल्लेखनीय विचारण दिल्ली के प्रतिष्ठित सूफी सरमद का था। उसका दोष केवल इतना था कि वह नंगा रहता था जो कि इस्लाम के विरुद्ध है। कई यूरोपीय यात्रियों ने मुगल बादशाहों द्वारा किए गए विचारणों के रोचक वृत्तांत दिए हैं। सन् 1511 में, विलियम फिंच लिखता है।[13]

आगरे के किले के चार क्षर हैं : पश्चिम वाले को कचहरी द्वार कहते थे जिसके अंदर बड़े दरवाजे के सामने ऊपर मुख्य न्यायाधीश काजी का आसन है। इसके सामने कचहरी है जहां राजा का वजीर प्रातःकाल बैठता है। मंगलवार का दिन खूनी है, इस दिन जानवरों की लड़ाई होती है और दंडित व्यक्तियों को दंड दिया जाता है। राजा न्याय करता है और उसके सामने दंड दिया जाता है।

एक प्रत्यक्षदर्शी, बर्नियर वर्णन करता है कि सम्राट औरंगजेब किस तरह न्याय करता था।

दीवाने आम में एकत्र भीड़ में याचिकाएं लेकर जितने लोग आते थे, उनकी याचिकाएं बादशाह के पास लाई जाती थीं और उसके सामने पढ़ी जाती थीं। संबंधित व्यक्ति को जब हुक्म होता था तो वह बादशाह के सामने पेश होता था। राजा स्वयं उससे प्रश्न करता था और बहुधा उसी समय व्यथित पक्षवार को अनुतोष प्रदान कर देता था। मनुच्ची भी सम्राट द्वारा न्याय किए जाने का एक वृत्तांत देता है:

बादशाह आमखास में दरबार लगाता है जिसमें व्यथित व्यक्ति प्रायः पेश होकर शिकायतें करते हैं। कुछ लोग हत्यारों को दंड दिए जाने की मांग करते हैं, कुछ लोग अन्याय और हिंसा की शिकायतें लेकर आते हैं बादशाह आदेश देता है कि चोरों के सिर काट दिए जाएं, जिन यात्रियों का माल लूट लिया गया है, उनको सूबेदार और फौजदार प्रतिकर दें। किन्हीं मामलों में वह घोषणा करता है कि अतिक्रमियों को क्षमा नहीं किया जाएगा, कुछ

अन्य मामलों में वह अन्वेषण करके उसका प्रतिवेदन करने का आदेश देता है।

न्यायाधीशों को अनुदेश

1. नवनियुक्त न्यायाधीश को काजी–उल–कज्जात यह उपदेश करता था।
2. न्यायप्रिय, ईमानदार और निष्पक्ष रहो। सुनवाई न्यायालय में संबंधित पक्षों के सामने, जहां सरकारी विभाग स्थित है वहां करो।
3. किसी से उपहार मत लो।
4. अपनी डिक्रियां, विक्रय पत्र, बंधक पत्र और दूसरे विधिक दस्तावेज बहुत सावधानी से लिखो ताकि विद्वान व्यक्ति उनमें दोष निकालकर तुम्हें लज्जित न करें।

निष्कर्ष

मुगल न्याय, विशेष रूप से सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में त्वरित, सस्ता और तथ्य आधारित होता था। भ्रष्ट न्यायाधीशों के साथ सम्राट बड़ी कठोरता से व्यवहार करता था। निर्धन बादशाह तक सरलता से पहुंच सकते थे। यह कहा जा सकता है कि 'न्याय में विलंब करना न्याय से वंचित करना है', वाक्यांश (आज की तरह) मुगल काल की न्याय व्यवस्था पर लागू नहीं होता था क्योंकि उस समय, विदेशी यात्रियों और तत्कालीन भारतीय इतिहासकारों की साक्षी के अनुसार भी, मुकदमों का फैसला शीघ्रतापूर्वक होता था और दिए गए दंड का निर्धारण अविलंब और यदि संभव हो तो उसी समय होता था–आज तो दंड और डिक्री के निष्पादन में बहुत लंबा समय लगता है।

यह कहा जा सकता है कि शीघ्रता से निर्णय करने के कारण अन्याय भी हो जाता होगा पर ऐसे मामले बहुत थोड़े होते थे क्योंकि न्यायाधीश विद्वान एवं निष्पक्ष व्यक्ति होते थे। यह कहा जा सकता है कि मुगल काल का न्याय आज जैसा सहज, व्यवस्थित, सोपानिक और त्रुटिहीन नहीं था, पर इसमें कोई संदेह नहीं कि मुगल शासकों का न्याय करने के प्रति बड़ा आग्रह रहता था और उनकी निरंकुशता पर आयु, ईश्वर का भय, जन असंतोष और विद्रोह की आशंका का अंकुश रहता था। उस समय का न्यायतंत्र यद्यपि कुछ सीमा तक रुक्ष, अपरिष्कृत और उद्यत प्रकार का था पर वह निष्पक्ष, त्वरित और कम खर्चीला था और कई दृष्टियों से वर्तमान न्यायतंत्र से बेहतर था जो विलंब, अनिश्चितता और प्रायः भ्रष्टाचार से ग्रस्त है।

अंत टिप्पणी

1. *बनर्जी, ए.सी. : 'भारत का संवैधानिक इतिहास मैकमिलन, इण्डिया, 1984*
2. *सरकार, जदुनाथ : 'मुगल एडमिनिस्ट्रेशन स्कॉलर चॉइस कलकत्ता, 1935*
3. *उपरोक्त*
4. *परांजपें, एन.वी. : 'भारतीय विधि का इतिहास' मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1982*
5. *सरकार, जदुनाथ : 'मुगल एडमिनिस्ट्रेशन स्कॉलर चॉइस कलकत्ता, 1935*
6. *उपरोक्त*
7. *नाथ, वीरेन्द्र : 'जूडिशियल एडमिनिस्ट्रेशन इन एनशियेन्ट इण्डिया जानकी प्रकाशन, पटना, 1979*
8. *दास, गोविन्द : 'भारत में न्याय एन.एम. त्रिपाठी एण्ड कम्पनी, बम्बई, 1967*
9. *जैन, एम.पी. : 'भारतीय विधि का इतिहास इलाहाबाद एजेन्सी पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, एजेन्सी पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, 1988*
10. *बावेल, बसन्तीलाल : दीवानी प्रक्रिया संहिता' सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी, इलाहाबाद*
11. *सरकार, जदुनाथ : 'मुगल एडमिनिस्ट्रेशन स्कॉलर चॉइस कलकत्ता, 1935*
12. *परांजपें, एन.वी. : 'भारतीय विधि का इतिहास' मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1982*
13. *दास, गोविन्द : 'भारत में न्याय एन.एम. त्रिपाठी एण्ड कम्पनी, बम्बई, 1967*